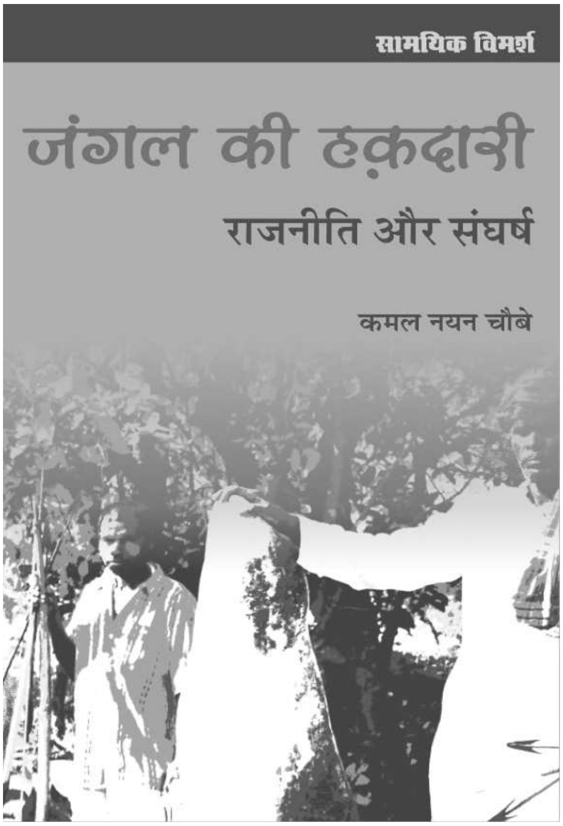
समीक्षा-संवाद

कमल नयन चौबे की रचना
जंगल की हक़दारी : राजनीति और संघर्ष
पर एकाग्र



जंगल की हक़दारी : राजनीति और संघर्ष
कमल नयन चौबे
सामयिक विमर्श ग्रंथमाला, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
मूल्य : 750 रु., पृष्ठ : 442

हाशियायी समाज और आदिवासी प्रश्न

कुँवर प्रांजल सिंह

कमल नयन चौबे की रचना *जंगल की हक़दारी* औपनिवेशिक इतिहास, लोकतांत्रिक चेतना, राष्ट्र-राज्य, सम्पत्ति, क़ानून तथा आदिवासियों के बीच होने वाली अंत:क्रियाओं का चतुर्भुज खींचती है। इन आधारों को दृष्टिगत रखते हुए मैंने इस समीक्षा को तीन भागों में बाँटा है। पहले भाग में मैंने मूलनिवास/जनजातीय के संवैधानिक प्रकरण तथा ऐतिहासिक बहसों को रखा है जिनके तहत अंग्रेज़ी शासन के दौर में अतिक्रमण की क़ानूनी प्रक्रिया को शामिल किया जाएगा। दूसरे भाग में इस अतिक्रमण की प्रक्रिया से आदिवासियों के जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव तथा उससे उत्पन्न समस्याओं की शिनाख़्त की जाएगी। तीसरे भाग में इस रचना की केंद्रीय अवधारणा— हाशियाग्रस्त समाज का विश्लेषण किया जाएगा। इसके तहत 'लीगलिज़म फ्रॉम बिलो' की प्रक्रिया रेखांकित की जाएगी।

जनजातीय/मूलनिवासी तथा संवैधानिक प्रकरण

आदिवासी शब्द का इस्तेमाल अनुसूचित जनजातियों और दूसरे ऐसे समूहों के लिए किया जाता है जिनकी जीवन-शैली और संस्कृति जंगल के संसाधनों से जुड़ी होती है। ये समुदाय स्वयं आदिवासी होने का दावा करते हैं।[1] आदिवासियों को भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकारों में विशेष सुरक्षा भी प्रदान की

[1] कमल नयन चौबे (2015) : 1.

गयी है। संवैधानिक रूप से लोकतांत्रिक क़ानून अपने समक्ष सबको समानता प्रदान करता है। यह समानता संविधान के अनुच्छेद 14 में निहित है जिसमें विधि के समक्ष समता तथा विधियों के समान संरक्षण की बात कही गयी है। इस अनुच्छेद में दो शब्द मूल रूप से शामिल हैं जिन पर विचार करने की आवश्यकता है। एक है समानता और दूसरा संरक्षण। यदि ये दोनों शब्द संविधान में शामिल होते हुए सभी नागरिकों पर लागू किये जाते तो 'गाँव छोड़ब नाही, जंगल छोड़ब नाही, माई माटी छोड़ब नाही, लड़ाई छोड़ब नाही'[2] जैसे नारों और गीतों से जंगल क्यों गूँज उठते? ये नारे क़ानून के आततायी पहलुओं की तरफ़ इंगित क्यों करते? समझने की बात यह है कि आदिवासी और उनकी अस्मिता केवल हमारे संविधान की उपज नहीं है। वे एक राजनीतिक इतिहास का अंग भी रहे हैं। उन्हें जिस अतिक्रमण को झेलना पड़ रहा है उसकी प्रक्रियाएँ औपनिवेशिक दौर में शुरू हुई थीं।

औपनिवेशिक राज्य तथा अतिक्रमण का क़ानून

अंग्रेज़ी राज की सबसे नायाब पेशकश ज़मीन को पण्य बना कर उसे काग़ज़ी कारवाई का हिस्सा बना देना था। हार्डीमैन का मानना है कि सम्पत्ति के अधिकार की स्थापना ज़मीन के साथ जुड़ी है। औपनिवेशिक क़ानूनों का शीराज़ा तथा जनजातीय क्षेत्रों के आर्थिक दोहन का तंत्र इसी के इर्द-गिर्द खड़ा किया गया। यह परिघटना आधुनिक भारत में राज्य के निर्माण की प्रक्रिया से जुड़ी हुई है।[3] इसके तहत अतिक्रमण एक क़ानूनी आचरण का पर्याय है। यहीं सवाल उठता है कि आख़िर अतिक्रमण है क्या? इसे किस प्रकार आजमाया जाता है? इसे लागू करने के लिए क़ानून का तर्क कैसे गढ़ा जाता है? और ऐतिहासिक अफ़सानों को किस प्रकार वर्तमान के लिए प्रासंगिक बनाया जाता है?

सामान्य तौर पर 'अतिक्रमण' या 'अतिक्रमक' राज्य द्वारा प्रयोग किया जाने वाला शब्द है, जो जंगल की ज़मीन पर आदिवासियों की ग़ैर-क़ानूनी स्थिति की ओर संकेत करता है। लेकिन इस सरकारी शब्दावली के विषय में आदिवासियों का मानना है कि अतिक्रमक तो स्वयं राज्य और वन-विभाग जैसी संस्थाएँ हैं।[4] औपनिवेशिक शासन के दौर में अतिक्रमण की यह प्रक्रिया मूलतः दो स्तरों पर चलती है। एक स्तर है बहिष्कृत का, और दूसरा स्तर है आंशिक रूप से बहिष्कृत का। जहाँ वन अधिनियम द्वारा जंगल पर क़ब्ज़ा करने का क़ानूनी आधार तैयार किया गया, वहीं दूसरे स्तर पर औपनिवेशिक शासकों ने जनजातियों की अलग श्रेणी बनाने की कोशिश की। मिसाल के तौर पर 1874 का द *शेड्यूल्ड डिस्ट्रिक्ट एक्ट* लागू होना जिसमें कई ज़िलों को अनुसूचित ज़िलों का दर्जा दिया गया, और जिसका आधार बहिष्कृत या आंशिक रूप से बहिष्कृत के रूप में परिभाषित किया गया। 1919 का भारत शासन अधिनियम मूलतः बहिष्कृत तथा आंशिक रूप से बहिष्कृत ज़िलों की शासन व्यवस्था से जुड़ा हुआ था। बहिष्कृत ज़िले में व्यवस्था बनाए रखने की ज़िम्मेदारी केंद्र की तथा आंशिक रूप से बहिष्कृत ज़िलों की व्यवस्था की ज़िम्मेदारी गवर्नर की थी।[5] साथ ही 1935 के शासन अधिनियम के अनुसार असम को बहिष्कृत श्रेणी का दर्जा देते हुए अन्य जनजातीय इलाक़ों को आंशिक रूप से बहिष्कृत का दर्जा दिया गया।

राज्य तथा औपनिवेशिक शासन की सबसे बड़ी ख़ूबी यह रही है कि वह अपना वर्चस्व क़ायम करने के लिए नयी-नयी श्रेणियों का निर्माण करता है। सुदीप्त कविराज का मानना है कि औपनिवेशिक शासन ने सार्वजनिक विमर्श पर वर्चस्व स्थापित करने के लिए सार्वजनिक व्यवस्था में हस्तक्षेप करने

---

[2] काशीपुर में बॉक्साइट खनन के ख़िलाफ़ आदिवासी संघर्षरत जनसमूहों का गीत है जिसे के.पी. शशि द्वारा (25 जून 2009) क़लमबद्ध किया गया था. देखें : http:/kafila.org/2009/6/25 gaon-chodab-nahin/ प्राप्त किया : 16 जून 2014.

[3] डेविड हार्डीमैन (2002) : 110-111.

[4] कमल नयन चौबे ने अतिक्रमण की इस अवधारणा का प्रयोग कैम्पैन के विश्लेषण से प्राप्त किया है. देखें, कमल नयन चौबे (2015) : 2.

[5] वही : 9.

का प्राधिकार ले रखा है।[6] इस संदर्भ में राज्य के प्रारूप का आधार भी महत्त्वपूर्ण है। युरोप में राज्यों का विकास आंतरिक अवयवों तथा क्रियाकलापों पर निर्भर करता है, जो उनके ऐतिहासिक अनुभव की देन है। इसके विश्लेषण से जन्मी संस्थाएँ और उदारतावादी लोकतंत्र के प्रारूप की यह पूरी प्रक्रिया पॉपुलर या आमफ़हम के अनुभव पर आधारित थी। वहीं भारत में राज्य की स्थापना का निर्माण बाहरी आवरणों से निर्मित होता है।[7] निकोलस डर्क्स की अवधारणा 'एथ्नोग्राफ़िक स्टेट' के आधार पर कमल नयन यह मानते हैं कि औपनिवेशिक राज्य भारतीय समाज के मानव-शास्त्रीय ज्ञान से संचालित रहा है। ज़मीनी काग़ज़ातों का दौर भी इसी के साथ चलता है, जिससे इस राज्य की मौलिकता का पता मिलता है। इसके तहत वह अपने साम्राज्यवादी हितों को पूरा करने के लिए जंगल पर निर्भर रहने वाली जनजातियों से जंगल की ज़मीन पर अपना स्वामित्व दिखाने के लिए कोई लिखित दस्तावेज़ पेश करने की माँग करता है। ऐसा न करने पर वह कहता है कि ज़मीन से जनजातियों के अधिकारों को समाप्त कर दिया जाएगा। 'अतिक्रमण' की क़ानूनी अवधारणा का जन्म इसी प्रक्रिया से हुआ और आदिवासियों को इसी के तहत अतिक्रमणकारी घोषित किया गया।

अतिक्रमण की यह समस्या देश के सभी जंगलों में मौजूद है। अमूमन इतिहासकारों में भी सहमति है कि स्वामित्व की क़ानूनी धौंस साम्राज्यवादी हितों को बढ़ाने का पैंतरा थी। इसके सदैव दो चरित्र रहे हैं। एक तरफ़ तो जंगल का जम कर दोहन किया गया और दूसरी तरफ़ वहाँ रहने वाले समूहों को उनकी ही ज़मीन पर अधिकारहीन घोषित कर दिया गया। इस संबंध में औपनिवेशिक राज्य 'एमिनेंट डोमेन' जैसे सिद्धांत का प्रयोग करता था। इसके अनुसार सम्प्रभु दो शर्तें पूरी करके अपने क्षेत्रों में आने वाली ज़मीन या इसके संसाधनों पर अपना स्वामित्व घोषित कर सकता है। पहला, जिन स्थानों पर व्यक्तिगत हित की जगह सार्वजनिक उद्देश्य ज़्यादा बड़ा हो, दूसरा राष्ट्रीय हित व्यक्तिगत या सामुदायिक हित से ज़्यादा बड़ा हो। औपनिवेशिक दौर में बने 1878 और 1927 के वन अधिनियम और 1894 में भूमि अधिग्रहण अधिनियम जैसे क़ानून में इसी सिद्धांत का प्रयोग किया गया था। इस प्रकार के नियमों/सिद्धांतों से अतिक्रमण को ही बढ़ावा मिला है।

आदिवासी जीवन, जंगल और अतिक्रमण

यह चर्चा आरम्भ करने से पहले एक ऐसी रचना का ज़िक्र ज़रूरी है जो सौ साल से भी अधिक पुरानी है। यह है रवींद्रनाथ ठाकुर की 'रॉबरी ऑफ़ द सॉयल'। इसमें फ़रमाया गया है कि उच्चस्तरीय जीवन की चाह ने, जो कभी समाज में छोटे स्तर पर ही विद्यमान थी लेकिन आज इसका आकार बहुत बड़ा हो गया है, प्राकृतिक स्रोतों और संसाधनों के दोहन का सिलसिला शुरू किया है। पानी ख़त्म हो रहा है, जंगल काटे जा रहे हैं, धरती बंजर हो रही है। प्रकृति के ऊपर हो रही यह हिंसा आदिवासियों, कृषि आधारित समुदायों और मछुआरों को गहराई से प्रभावित कर रही है।

यह पुस्तक भले ही हमसे सौ साल की दूरी पर हो, लेकिन इसकी प्रासंगिकता से इंकार नहीं किया जा सकता। आज का विकास काफ़ी-कुछ पर्यावरण के दोहन से ही उत्पन्न हो रहा है। ओडीशा के नियमगिरी तथा झारखण्ड में बॉक्साइट-खनन ने आदिवासियों के जीवन को अस्त-व्यस्त कर दिया है। विकास के नाम पर जंगल का अतिक्रमण करने वाली इन सरकारी नीतियों का यदि आदिवासी विरोध करता है तो उसे नक्सलवादी घोषित कर दिया जाता है। नक्सलवाद का निवारण होना चाहिए, लेकिन सवाल यह है कि कौन-सी सरकारी ख़ामियों के कारण इनका निवारण नहीं हो पा रहा है? क्या सरकार की तरफ़ से की गयी हिंसक कार्यवाहियों में मारे जाने वाले आदिवासी नक्सली हैं? या यह

---

[6] सुदीप्त कविराज (2000) : 43.

[7] सुदीप्त कविराज (1997) : 11-13.

समझ लिया गया है कि सभी आदिवासी नक्सली हैं? दूसरी तरफ़, क्या नक्सलियों के द्वारा की गयी कार्रवाई पूरी तरह आदिवासियों के हित में हैं? इन सवालों पर विचार करने की आवश्यकता है।

आदिवासी जीवन[8] में अतिक्रमण को समझने के लिए हमें यह सवाल भी ज़ेहन में रखना होगा कि क्या वन में रहने वाले सभी लोग आदिवासी हैं, या वे सिर्फ़ आदिवासी होने का दावा करते हैं। तेखरानाला गाँव के हवाले से कमल नयन ने 'बेजा क़ब्ज़ा' की परिघटना की निरंतरता को देखते हुए यह शिनाख़्त की है कि यहाँ बरगाह नामक एक ऐसी जाति भी है जो अनुसूचित जनजाति की श्रेणी में शामिल न होने के बावजूद ख़ुद को आदिवासी के रूप में ही परिभाषित करती है। साथ ही जंगल के कई ऐसे गाँव हैं जहाँ मामा लोगों[9] के कारण वन विभाग के कर्मचारियों द्वारा पेड़ों की बेजा कटाई और गाँव वालों को परेशान करने की गतिविधियाँ रुक गयी हैं। फयदू गाँव की मूल समस्या बेजा क़ब्ज़ा की ज़मीन पर सरकारी कर्मचारी का तय हिस्सा था। लेकिन 'मामा लोगों' के आने से यह समस्या समाप्त हो गयी। हिस्सा वसूल करने की प्रक्रिया में शामिल दमनकारी प्रवृत्तियाँ भी नगण्य-सी हो गयी। यहाँ मैं लेखक को एक द्वंद्व में देख रहा हूँ। लेखक स्वयं इस बात को अंकित करता है कि यहाँ माओवादी कोई आमूल-परिवर्तनवादी या रैडिकल एजेंडा लागू करने में सफ़ल नहीं हो पाए हैं। एक तरह से अभी ये इन क्षेत्रों में पैर जमाने की क़वायद ही कर रहे हैं। दूसरी तरफ़ ये गाँव आधुनिकता या प्रशासकीय कार्यों से बिल्कुल कटे भी नहीं हैं। वे स्कूली शिक्षा, जनगणना और पंचायत आदि राज्य द्वारा संचालित संस्थाओं से जुड़े हुए हैं तथा वन अधिनियम क़ानूनों से फ़ायदा लेने की आशा भी रखते हैं।[10]

जंगल-आश्रित समुदायों के विश्लेषण में अगर अतिक्रमण को आधार मान कर देखा जाए तो क़ानून एक प्रकार की धौंस का आवरण लेता हुआ दिखाई पड़ता है। इसीलिए जंगल पर नियंत्रण के क़ानून के ख़िलाफ़ जनसामान्य का विरोध तथा नक्सलवादी प्रभावित इलाक़ों में गोलबंदी का अंतर्विरोध-सा पैदा हो गया है। इससे एक ऐसा समाज निकला है जो शक्ति की संरचना तथा रोज़मर्रा के जीवन के संघर्ष में ख़ुद को हाशिये पर पाता है। लेखक ने इसे हाशियाई समाज की संज्ञा दी है।

हाशियाई समाज/राजनीतिक समाज तथा जंगल का संघर्ष[11]

हाशियाई समाज का प्रयोग करने से पहले कमल नयन सामाजिक आंदोलन और 'रोज़मर्रा के राज्य' के वाद-विवादों से गुज़रते हैं। वे इसे सामाजिक आंदोलन के नये और पुराने ढर्रे में समाहित करने से इंकार करते हुए मनोरंजन मोहंती द्वारा प्रवर्तित जनांदोलन की अवधारणा से जोड़ना ज़्यादा मुनासिब समझते हैं। मोहंती मानते हैं कि सामाजिक आंदोलन का अर्थ स्पष्ट नहीं है। इसमें एक विशेष मुद्दे पर ही गोलबंदी होती है। इसके स्थान पर मोहंती जनांदोलन का प्रयोग करते हैं जिसके तहत लोगों के द्वारा ज़्यादा आज़ादी और समानता हासिल करने की कोशिश का इरादा ज़ाहिर होता है। इसमें मोहंती वर्ग-संघर्ष के साथ-साथ दलितों, आदिवासियों और महिलाओं आदि के अधिकारों के लिए लड़े जाने वाले संघर्षों को शामिल करते हैं।[12] दूसरी तरफ़ फ़ूको के विचारों में रोज़मर्रा की ज़िंदगी में राज्य-शक्ति के प्रभाव और शासकीयता से राज्य और समाज के बीच का विश्लेषण करते हुए प्रतिरोध का

---

[8] यह आदिवासी जीवन को समझने के लिए कमल नयन के द्वारा किये गये फ़ील्ड वर्क में सम्मिलित गाँव तेखरानाला, फयदू, सठोरा पर आधारित है. यहाँ मैं कमल नयन चौबे को एक ऐसे इतिहासकार की भूमिका में देखना चाहता हूँ जिसका आधार सबाल्टर्न स्टडीज़ के साथ जुड़ा है और मूल उद्देश्य इतिहास को मातहत वर्गों के नज़रिये से समझने और परखने का है. देखें, कमल नयन चौबे (2015) : 208.

[9] 'मामा लोग', सरगुजा में आम लोगों द्वारा माओवादियों के लिए अमूमन इस शब्द का प्रयोग किया जाता है. बस्तर तथा दूसरी जगहों पर अलग सम्बोधन है, जहाँ इनके लिए 'दादा लोग' का प्रयोग करते हैं. देखें, पूर्वोक्त : 241.

[10] वही : 243.

[11] वही: 38.; संघर्ष का प्रयोग बार-बार इसलिए किया जा रहा है क्योंकि लेखक आंदोलन को नये और पुराने सामाजिक आंदोलन की श्रेणी में रखने के लिए तैयार नहीं है. बल्कि वह इसे एक 'हक़ हासिल' करने वाले आंदोलन के रूप में परिभाषित करता है.

[12] मनोरजन मोहंती (1998) : 17-18. साथ ही देखें, कमल नयन चौबे (2015) : 39.

एक रास्ता दिखता है। लेखक हाशिये के समाज और राज्य की व्याख्या का परीक्षण करता है। उसकी यह क़वायद पार्थ चटर्जी के राजनीतिक समाज से कई मायने में अलग भी है।

हाशियाई समाज तथा राजनीतिक समाज

एक अवधारणा के रूप में पार्थ चटर्जी राजनीतिक समाज का प्रयोग ऐसे समूह के लिए करते हैं जो अपनी रोज़मर्रा की ज़िंदगी की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए संघर्ष करता है और अधिकांश मौक़ों पर उसकी गतिविधियाँ ग़ैर-क़ानूनी दायरे में चली जाती हैं।[13]

इस समाज को तीन आधारों पर समझा जा सकता है।[14] पहला, पार्थ चटर्जी सैद्धांतिक रूप से नागरिक समाज तथा राजनीतिक समाज के बीच अंतर करते हैं। वे नागरिक समाज को हेगेल तथा मार्क्स के अर्थ में लेते हुए एक बोर्ज़्वा समाज के रूप में ग्रहण करते हैं। इस समाज में आधुनिक समझौते के आधार पर संबंध बनते हैं। लेकिन ऐसा समूह बहुत छोटा होता है और इसे आसानी से पहचाना जा सकता है। दूसरा, संवैधानिक रूप से चटर्जी यह मानते हैं कि संविधान तथा क़ानून के अनुसार सभी लोग समान अधिकारों से सम्पन्न नागरिक हैं लेकिन इनमें ज़्यादा बड़ी संख्या उन नागरिकों की होती है जिनके पास यह अधिकार केवल नाममात्र का होता है। अधिकार-धारक नागरिक के रूप में इनकी स्थिति द्वैधपूर्ण होती है। ये अपने निवास-स्थान और जीविका आदि के संदर्भ में ग़ैर-क़ानूनी स्थिति में हो सकते हैं। इस आधार पर वे नागरिक समाज के सदस्य नहीं होते। लेकिन वे इस स्थिति में भी राज्य की पहुँच से बाहर नहीं निकल पाते। तीसरा, ऐतिहासिक आधार, जिसमें चटर्जी स्वयं इतिहासकार की भूमिका में हैं, पर उनकी मान्यता है कि पश्चिम में लोकतंत्र के उभार से एक नये प्रकार के अंतर का जन्म हुआ है। यह नागरिक और जनसंख्या के बीच का अंतर है जहाँ नागरिक सिद्धांत के दायरे में रहते हैं और आबादी नीति के दायरे में होती है। नीति आबादी की भलाई का दावा करती है, लेकिन इसकी तार्किकता खुलेपन पर आधारित नहीं है। वह सिर्फ़ लागत तथा फ़ायदे की गणना करती है।

> एक तरफ़ ज़मीनी स्तर से क़ानूनवाद के कारण बहुत से स्थानों पर आदिवासियों द्वारा भूमि अधिग्रहण का सफल विरोध हुआ है। साथ ही राजनीतिक जागरूकता बढ़ी है और आदिवासियों की हौसला अफ़ज़ाई भी हुई है। दूसरी तरफ़, राज्य ने ख़ुद इस प्रकार की अवधारणा पर सवार होकर तथा कथित लोकोपकारी मार्ग छोड़ कर और हिंसा का सहारा लेकर अपनी वैधता स्थापित करने का भी काम किया है। कमल नयन ज़मीनी स्तर के क़ानूनवाद को वर्चस्व के रूप में न रख कर प्रभुत्व के रूप में देखते हैं।

जहाँ तक हाशियाई समाज की अवधारणा का सवाल है, कमल नयन ने प्रारम्भिक तौर पर स्पष्ट कर दिया है कि वे पार्थ चटर्जी के राजनीतिक समाज की बुनियादी बातों को स्वीकार करते हुए उसमें कई नये पहलुओं को जोड़ते हैं। चटर्जी वनोत्पादों पर निर्भर जनजातीय लोगों और किसान समाज में अंतर करते हैं, लेकिन कमल नयन ने इस अंतर को संदेह की दृष्टि से देखते हैं। वे तर्क देते हैं कि जंगल या जंगल के नज़दीक बसे गाँवों में अधिकतर लोग खेती और वनोपार्जन दोनों पर निर्भर करते हैं। दूसरे, राजनीतिक समाज की तरह ही मार्जिनल सोसायटी के लोग कई गतिविधियों की दृष्टि से ग़ैर-क़ानूनी श्रेणी में आ जाते हैं। मिसाल के तौर पर वे या तो 'अतिक्रमणकारी' के रूप में होते हैं या वन विभाग द्वारा जंगल में इनकी गतिविधियों को ग़ैर क़ानूनी क़रार दिया जाता है। तीसरे, हाशिये के समाज की बुनियादी विशेषता क़ानून के प्रति इसकी जागरूकता तो है, लेकिन यह जागरूकता क़ानून

---

[13] पार्थ चटर्जी (2008). हालाँकि मैं यहाँ नागर समाज की अवधारणात्मक बहस में नहीं जाऊँगा क्योंकि उसका सरोकार इस विमर्श से विभिन्न है.

[14] यह तीनों आधार पार्थ चटर्जी के विश्लेषण में देखे जा सकते हैं. देखें, पार्थ चटर्जी (2011).; साथ ही देखें, कमल नयन चौबे (2015) : 40-41.

के दमन की गतिविधियों से आती है। वन के क़ानून ही इस प्रकार के हैं जो वन पर आश्रित जीवन को रोज़ाना के संघर्ष में धकेल देते हैं। वेरियर एल्विन का मानना है कि हमारे क़ानून इस तरह के हैं कि हर एक गाँव का बाशिंदा अपनी ज़िंदगी में हर रोज़ एक क़ानून तोड़ता है।[15]

क़ानूनवाद तथा 'लीगलिज़्म फ्रॉम बिलो'

क़ानून के शासन की अवधारणा उदारतावादी लोकतंत्र का एक महत्त्वपूर्ण घटक है। इसे सभ्यतामूलक कारक के रूप में भी परिभाषित किया गया है। यह उदारतावादी लोकतंत्र के लिए एक तरह की ढाल है, जो किसी भी प्रकार की राजकीय कार्यवाही को न्यायोचित ठहराने का कार्य करता है। इस संदर्भ में कन्नाबिरन का मानना है कि राज्य तथा सरकार क़ानून की हुकूमत को सभ्यता से जोड़ कर हिंसा तथा युद्ध को न्यायोचित ठहराने का कार्य करते हैं। राज्य/सरकार के अंदर शक्ति और हिंसा सूक्ष्म विचारधारा की भाँति क्रियाशील रहती है[16] जिसे राज्य सुरक्षा के नाम पर परिभाषित और जायज़ ठहराने का कार्य करता है। राज्य जब सुरक्षा के नाम पर इस तरह की हिंसा करता है तो उससे जनता की अवधारणा परिवर्तित होकर उपद्रवी भीड़ (मॉब) की अवधारणा बनने लगती है। जंगल में बेजा क़ब्ज़े तथा अतिक्रमण की प्रक्रिया कुछ इसी प्रकार चलती है जो सबाल्टर्न तथा क़ानून के बीच अनुमत संघर्ष को जन्म देती है।

जहाँ तक ज़मीनी स्तर के क़ानूनवाद का प्रश्न है तो इसका प्रारम्भिक प्रयोग जूलिया एकर्ट ने भारत के शहरी विश्लेषण के अध्ययन के रूप में किया है, जबकि कमल नयन चौबे इसे हाशियाई समाज तथा राज्य के मध्य विश्लेषण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। एकर्ट के अनुसार ज़मीनी स्तर पर क़ानूनवाद राजकीय क़ानून के वर्चस्व को स्वीकार करता है और उसे बढ़ावा देता है।[17] इसके इतर वन अधिकार, क़ानून के लिए चलने वाले आंदोलन में उनकी भागीदारी तथा जागरूकता के मद्देनज़र क़ानून की बेहतरी तथा राज्य के अधिकारियों के ख़िलाफ़ ज़मीनी स्तर से क़ानूनवाद का उभार हुआ है।[18] इसका दोहरा परिणाम देखा जा सकता है। एक तरफ़ ज़मीनी स्तर से क़ानूनवाद के कारण बहुत से स्थानों पर आदिवासियों द्वारा भूमि अधिग्रहण का सफल विरोध हुआ है। साथ ही राजनीतिक जागरूकता बढ़ी है और आदिवासियों की हौसला अफ़ज़ाई भी हुई है। दूसरी तरफ़, राज्य ने ख़ुद इस प्रकार की अवधारणा पर सवार होकर तथा कथित लोकोपकारी मार्ग छोड़ कर और हिंसा का सहारा लेकर अपनी वैधता स्थापित करने का भी काम किया है। कमल नयन ज़मीनी स्तर के क़ानूनवाद को वर्चस्व के रूप में न रख कर प्रभुत्व के रूप में देखते हैं।

आलोचनात्मक निष्कर्ष

इस चर्चा के आधार पर यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि प्रस्तुत पुस्तक गहन संवाद की सम्भावनाओं से लैस है। वह क़ानूनी विमर्श को आधार बना कर उसकी प्रक्रिया के ऐतिहासिक पक्ष को खोलती है और संघर्ष को ही राजनीति का अभिप्राय मानती है। इस अर्थ में यह रचना राजनीतिक इतिहास का निदर्शन बन जाती है। पुस्तक में सामाजिक संरचना में होने वाले परिवर्तन तथा सामाजिक इतिहास-बोध पर एक सुचिंतित विचार-विमर्श महसूस किया जा सकता है। यहाँ हाशिये के समाज की अवधारणा राजनीतिक समाज की तर्ज़ पर तैयार की गयी है। इसे सत्ता के राजनीतिक क्रियाकलाप के साथ-साथ स्वायत्तता की राजनीति के ज़रिये भी समझने की आवश्यकता है। तीसरी तरफ़, आदिवासी-प्रश्न के संबंध में क़ानून ऐसी किसी निर्णायक भूमिका में नहीं है कि उनकी सुरक्षा को प्राथमिकता पर रख सके।

---

[15] वेरियर एल्विन (1941) : 12.

[16] कन्नाबिरन (2004) : 2.

[17] कमल नयन चौबे (2015) : 35.

[18] वही : 49.